AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

राजस्व व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास क्रम एवं तुलनात्मक अध्ययनः 1500 ई.पू. से 185 ई. तक

ORIGINAL ARTICLE

Authors
अनुबाला सुमन
शोधार्थी
डॉ. अशोक कुमार मंडल
शोध निर्देशक
इतिहास विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय
हजारीबाग, झारखण्ड़, भारत

शोध सार

राजस्व व्यवस्था किसी भी राज्य की आर्थिक और राजनीतिक संरचना का मूल केन्द्रक मानी जाती है। भारत की राजस्व व्यवस्था का विकास एक लंबी और सतत् प्रक्रिया रही है जो वैदिक काल की 'भेंट और बलि' की परंपरा से प्रारंभ होकर मौर्यकालीन संगठित प्रशासन और उत्तर–मौर्यकालीन विकेंद्रीकरण तक विकसित हुआ। प्रारंभिक समाजों में कर एक नैतिक एवं धार्मिक दायित्व माना जाता था जो राजा को राजधर्म के अंतर्गत प्रजा की रक्षा एवं कल्याण हेतु अर्पित किया जाता था। समय के साथ जैसे–जैसे राज्य सत्ता का विस्तार हुआ और प्रशासनिक संरचनाएँ विकसित हुई, राजस्व व्यवस्था भी अधिक संगठित, व्यवस्थित एवं विविध आयाम वाली होती चली गई। प्रस्तुत अध्ययन में 1500 ई. पूर्व से 185 ई. तक की अवधि को आधार बनाते हुए राजस्व व्यवस्था के स्वरूप, रूपांतरण राजकीय संस्थाओं तथा सामाजिक–आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक वैदिक काल में कर प्रणाली धार्मिक व नैतिक कर्तव्य के रूप में थी, जबकि मौर्यकाल में यह संगठित प्रशासनिक संरचना में परिवर्तित हुई। मौर्य काल में विकेंद्रीकरण, भूमि दान और सामंतीकरण के कारण राजस्व नीति की शक्ति क्षीण हुई। यह अध्ययन ऐतिहासिक ग्रंथों, स्रोतों तथा आधुनिक इतिहासकारों के विश्लेषण पर आधारित है, जो राजस्व व्यवस्था को केवल आर्थिक न मानकर, सामाजिक और राजनीतिक यंत्रणा का भी दर्पण मानता है।

मुख्य शब्द

राजस्व–व्यवस्था, कर नीति, अर्थशास्त्र, मौर्य प्रशासन, वैदिक काल.

भूमिका

राजस्व व्यवस्था किसी भी राज्य की आर्थिक संरचना की रीढ़ होती है जो शासन की स्थिरता, उसकी नीतियों की प्रभावशीलता एवं सामाजिक संरचना के संचालन का मुख्य साधन होती है। भारतीय संदर्भ में राजस्व व्यवस्था का इतिहास न केवल आर्थिक बल्कि सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास की भी कहानी है। 1500 ई. पूर्व से 185 ई. तक का काल भारतीय सभ्यता के विकास का निर्णायक चरण था जहाँ आरंभिक वैदिक समाज की पशुपालक अर्थव्यवस्था क्रमशः कृषि और व्यापारिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हुई। प्राचीन भारत में "राजा" को केवल शासक

नहीं बल्कि "धर्म पालक" और "प्रजा पालक" के रूप में देखा गया है। राजा का यह दायित्व था कि वह न्यायपूर्वक कर ले, प्रजा की रक्षा करे और राज्य के संसाधनों का उचित उपयोग करे। वैदिक ग्रंथों में "कर" को 'बलि' भाग और शुल्क जैसे शब्दों से अभिहित किया गया है। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है "राजा बलि हरित" अर्थात" राजा जनता से बलि स्वीकार करता है, परंतु यह कर स्वैच्छिक था, जबरन नहीं।[2] मौर्य काल में यह व्यवस्था अपने उत्कर्ष स्थिति पर जा पहुँची। जहाँ अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों में कराधान, राजकोष, लेखांकन और राजकीय अधिकारियों की सुस्पष्ट प्रणाली का विवरण मिलता है। इस प्रकार यह लेख एक ऐतिहासिक यात्रा को विश्लेषित करता है कि किस प्रकार भारत की राजस्व व्यवस्था ने राजनीतिक स्थायित्व, सामाजिक संरचना और आर्थिक नीति को आकार दिया।

राजस्व व्यवस्था का कालवार विकासक्रम (1500 ई.पू. से 185 ई. तक)

वैदिक काल

इस समय राजा और राज्य दोनों ही थे पर राज्य की संकल्पना सीमित थी, राजा 'जनक' का प्रतिनिधि था शासक नहीं। राजा की व्यवस्था तथा सहयोगियों के लिए राजस्व मुख्यतः बलि, उपहार (भेंट) तथा दान के रूप में प्राप्त होता था।[3] इस काल में कोई संगठित कर–प्रणाली नहीं थी। यह स्वैच्छिक योगदान था जिसे धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। राजा के एजेंट इसे वसूलते थे यह कर का प्रारंभिक स्वरूप अवश्य रहा होगा, पर नियमित स्वरूप इसका नहीं था। यह जनता की इच्छा पर निर्भर होता था। उत्तर वैदिक काल आने तक बलि एक नियमित व्यवस्था बन चुका था। अथर्ववेद में संपत्ति का एक 1/6 भाग राजा का बताया गया है जिसे बलि के स्थान पर 'शुल्क' कहा गया। बाद में यह 1/6 भाग हुआ। यह राजस्व का भाग रहा होगा। अथर्ववेद में कामना की गई है कि राजा को यह सौभाग्य प्राप्त हो कि वह प्रजा से बालि प्राप्त करे। डॉ० अलतेकर के अनुसार इससे लगता है कि जनता नियमित कर देने की अभ्यस्त नहीं थी। इसकी पुष्टि ऋग्वेद के बलिहृत (बलात, अपहृत या बलपूर्वक ली गई) शब्द से भी होती है। देवताओं को चढ़ाए जाने वाला उपहार 'बलि' कहा जाता था जिसका प्रयोग हम राजा को दिए जाने वाले कर के संदर्भ में पाते हैं। अतः 'बलिहृत' का अर्थ यह भी हो सकता है कि स्वेच्छा द्वारा दिए गए कर को ग्रहण करने वाला। अथर्ववेद में पुनः राज्य प्राप्त करने वाले एक राजा के विषय में कहा गया है कि उसे प्रचुर उपहार और बालि प्राप्त हो। ब्राह्मणों के काल में यह व्यवस्था अब ऐच्छिक न रह कर नियमित बन चुकी थी। यहाँ राजा को 'विषमता' विष–प्रजा का, अता–भोगने वाला कहा गया है। स्पष्ट है कि राजा प्रजा से नियमित कर लेता था। 'भागप्रद' नामक अधिकारी का भी उल्लेख मिलता है जो भाग या कर वसूलता होगा। राजा और उसके प्रशासन के समस्त कार्य प्रजा द्वारा दिए गए उपहार पर चलता था। यह उपहार ही कर थे। कर प्रायः वास्तु के रूप में वसूला जाता था। पशुपालक कर के रूप में गाय, बैल, घोड़े आदि देते थे जिसकी एक निश्चित मात्रा निर्धारित थी।[4] पंचविष ब्राह्मण आठ अधिकारियों की चर्चा करता है जो कर एकत्रित करते थे। इनको 'संग्रहित्री' कहा गया है। इस प्रकार कर अन्न और धन दोनों रूपों में लिए जाते थे। अतः कहा जा सकता है कि वैदिक काल में वाणिज्य और व्यवसाय अभी प्रारंभिक स्थिति में थे, इसलिए आय स्रोत भी सीमित अवस्था में थी। अतः कहा जा सकता है कि वैदिक काल 'नैतिक अर्थव्यवस्था' का प्रतीक था, जहाँ कर देना लोग अपना कर्तव्य समझते थे।

महाजनपद काल

भारतीय राजस्व व्यवस्था के संस्थागत विकास का प्रतीक इस काल को माना जाता है। इस काल तक भारतीय उपमहाद्वीप की राजस्व व्यवस्था एक अत्यंत संगठित और कठोर रूप ले चुकी थी। इस युग में कर वसूली की प्रणाली अधिक मानकीकृत, व्यापक और बहु–स्तरीय हो चुकी थी। भूमि कर, व्यापार कर, पशु कर और परिवहन कर जैसे विविध कर स्रोत राज्य की आर्थिक शक्ति के मुख्य स्तंभ बन गए थे।[5] महाजनपद काल में भूमिकर उपज के अनुपात में लिया जाता था जिसकी दर भूमि की माप, फसल की गुणवत्ता और सिंचाई की उपलब्धता पर निर्भर करती थी जो राज्य की आय का मुख्य स्रोत माना जाता था। "भूमिः अंशों राजस्व एवं भवति"[6] अतः इस काल में भूमि कर नियमित रूप से वसूला जाने लगा। इस काल में सिक्कों का प्रयोग (आहात सिक्के) भी कर वसूली और व्यापार में आरंभ हुआ। व्यापार और शिल्प पर कर महाजनपद काल में नगरों और व्यापारिक केंद्रों के विकास के साथ 'शुल्क'

और 'पण्यकर' जैसे कर भी लागू हुए। इस काल में पोत कर के भी मुख्य कर का साधन था जो नौवहन और नदी मार्गों के उपयोग पर लगाए जाने वाला कर था।[7] इस काल में भूमि कर निर्धारण के प्रमुख अधिकारी था रज्जुगाहक। यह भूमि को माप, खेतों के बंटवारा तथा सीमा निर्धारण को सूचित करता था। दोण मापक और महामात्र कर एकत्रित करते थे। ग्राम दो प्रकार थे एक जिसका पूरा राजस्व राजा लेता था दूसरा जिसका राजस्व ग्राम योजक लेता था तथा एक भाग राजा को देता था।[8] राजस्व का उपयोग मुख्यतः किलों, सड़कों और जलाशयों के निर्माण में, सैनिक व्यवस्था बनाए रखने में, धार्मिक संस्थाओं के पोषण एवं व्यापारिक सुरक्षा और नगरों के विकास के लिए भी किया जाता था। अतः देखा जा सकता है कि महाजनपदों की आर्थिक नीति में यह स्पष्ट था कि राजा का दायित्व केवल कर संग्रह तक सीमित नहीं था, बल्कि जनकल्याण की दिशा में भी उसका व्यय करना अनिवार्य था। इस प्रकार महाजनपद काल में राजस्व व्यवस्था न केवल राजसत्ता का आधार बनी, बल्कि आर्थिक और राजनीतिक स्थिरता का भी प्रमुख साधन बनी।[9]

मौर्यकाल में राजस्व व्यवस्था

मौर्यकाल में राजस्व व्यवस्था अपने वैज्ञानिक और संस्थागत स्वरूप को प्राप्त कर चुकी थी। इस काल को भारतीय आर्थिक प्रशासन का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजस्व नीति का विशद् विश्लेषण मिलता हैः

जहाँ प्रत्येक विभाग, अधिकारी और राजस्व स्रोतों को "धर्म, अर्थ और दंड" के संतुलन का पालनकर्ता माना गया है। "राजयस्य मूल अर्थः" – राज्य का मूल धन है, और धन का मूल प्रजा का श्रम। (स्रोतः– कौटिल्य, अर्थशास्त्र, अध्याय–1)

मौर्य काल में राज्य व्यवस्थित था, सुरक्षार्थ संगठित सेना थी क्योंकि साम्राज्य अत्यंत विशाल था। राजा प्रजा के कल्याण के दृष्टिकोण से शासन करता था। अतः राजा वार्ता में सिद्धहस्त थे। घोषाल के अनुसार राज्य की सुरक्षा के दो आधार थे – कोष और सेना। कोष का मूल स्रोत राजस्व था।[10] कौटिल्य ने राज्य के आय के दो स्रोतों का उल्लेख किया है – (अ) आय शरीर (ब) आय मुख। आय शरीर के निम्नलिखित साधन बताए गए हैं – दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, ब्रज और वणिक–पथ। आय मुख के स्रोतों का है मूल, भाग, व्याजी, परिधि, वलुप्त, रूपिक और अत्यय। इनके अतिरिक्त अन्य आकस्मिक न्यायिक आदि विवध करों का भी उल्लेख है।[11]

कौटिल्य ने राजस्व के स्रोतों को दो भागों में बांटा है – पार्थिव (भूमि से प्राप्त राजस्व) तथा अपार्थिव (भूमि के अतिरिक्त अन्य साधनों से प्राप्त राजस्व)। कौटिल्य द्वारा उल्लेखित आय के साधन हैं – दुर्ग, राष्ट्र, खनिज, सेतु, वन, ब्रज, वणिक, पथ। दुर्ग के अंतर्गत शुल्क, जुर्माना, पौतव, नगराध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, विक्रेता, सुवर्णाध्यक्ष, दुकान, वेश्या, धूत, शिल्पी, बढ़ई, सुनार, लोहार, मंदिरों के निरीक्षण, द्वारपाल तथा नट–नर्तकी से लिया हुआ धन आता था। भूमि के उत्पादन का अंश, उपहार, व्यापार, नौका परिवहन पर कर, कस्बों की आय, चारागाह से प्राप्त आय, मार्ग कर, भूमि निरीक्षकों द्वारा प्राप्त धन तथा चोरों के पकड़ने पर ग्राम वासियों से प्राप्त धन राष्ट्र कहलाता था। सोना, चांदी, हीरा, मोती, मणि, मूंगा, शंख, लोहा, लवण तथा खनिज पदार्थ से लिए जाने वाला कर खनिज कहलाता था। हाथी, हिरण तथा लकड़ी के अंतर्गत प्राप्त कर वन कहा जाता था। फल, फूल, केला, सुपारी, अन्न, अदरक तथा हल्दी के खेत सेतु के अंतर्गत रखे गए थे तथा व्यापार के लिए प्रयुक्त स्थल एवं जलमार्ग को वणिक कहा जाता था। कौटिल्य ने अन्य साधनों में मूल (अनाज तथा शाक सब्जी के विक्रय से प्राप्त धन) परिथ (लावारिस धन), क्लृप्त (निश्चित कर), रूपिक (अतिरिक्त कर) अव्यय (जुर्माना से प्राप्त धन) का उल्लेख किया है। अतः कौटिल्य द्वारा आय के साधनों का वर्गीकरण वैज्ञानिक प्रतीत होता है। चूँकि उसमें कर एवं शुल्क में भेद रखा गया है।[12]

अभिलेखों के आधार पर डॉ० उद्रगाँवकर ने भाग कर, भोग कर, शुल्क, विशिष्ट, उद्रंग और उपरिका जैसे करों का उल्लेख किया है।[13] प्राचीन भारत में बेगार प्रथा राजकीय कर का ही एक परिवर्तित रूप था, इसे विष्टि कहा जाता था। इन दिनों ये बेगार उस समय लिए जाते थे जब राज्याधिकारी दौरे पर जाते थे।[14] नियमित करों के अतिरिक्त आकस्मिक संकट उपस्थित होने पर अतिरिक्त कर लिया जाता था जिसे प्रणय कहा जाता था।[15]

राज्य, राजस्व की व्यवस्था का विशेष ध्यान रखता था, क्योंकि उसकी समुचित व्यवस्था पर ही राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि निर्भर करती थी। कौटिल्य ने सर्वप्रथम एक विशाल साम्राज्य के राजस्व प्रशासन की रूपरेखा प्रस्तुत की है तथा इसमें संबंधित अधिकारियों एवं उनके कार्यों का व्यौरा प्रस्तुत किया है। राजस्व से सम्बंधित दो मुख्य पदाधिकारियों का उल्लंघन किया है– समाहर्ता तथा सन्निधाता। समाहर्ता की तुलना आधुनिक वित्तमंत्री से की गई है। जिसका कार्य विभिन्न स्रोतों से राजस्व की वसूलीकरण, आय–व्यय तथा राजभवन के पूरे लेखा–जोखा की देखभाल करना तथा राज्य की आय प्राप्त करने तथा उसे बढ़ाने का मार्ग ढूँढना।[16] सन्निधाता वस्तुतः राज्य के सभी भण्डारों का तथा व्यापार एवं जल प्रधान होने के कारण समाहर्ता कौटिल्य के समकक्ष अधिकारी था वह राज्य के कोषगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार तथा आयुधगार में संग्रहित होने वाले सभी सामग्रियों तथा द्रव्यों का पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण से संबंधित था। राजस्व के अन्य महत्वपूर्ण अधिकारियों गोप और स्थानिक अक्षपटलाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, नगराध्यक्ष, महामात्र, प्रादेशिक, युक्त आदि थे। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ग्रामपति विभिन्न परिवार प्रधानों से राजस्व संग्रहित कर विषयपति को सौपता था। पूर्व मध्यकालीन साहित्य से भी राजस्व से सम्बंधित प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारियाँ मिलती है।[17]

अतः राजाओं की शक्ति एवं सुविधानुसार मौर्यकालीन भारत में राजस्व प्रशासन की रूपरेखा तय की गई।

1500 ई. पू. से 185 ई.पू. तक की राजस्व व्यवस्था का तुलनात्मक विवरण

ऋग्वैदिक काल (1500–1000 ई.पू.) में राजस्व व्यवस्था अत्यंत सरल और स्वैच्छिक स्वरूप की थी। राजा को 'बलि', 'दक्षिणा' और 'उपहार' के रूप में कर प्राप्त होता था, जो प्रायः धार्मिक अनुष्ठानों या विशेष अवसरों पर दिया जाता था। इस समय अर्थव्यवस्था मुख्यतः पशुपालन आधारित थी, इसलिए कर का स्वरूप भी अनाज, दूध, पशुधन अथवा अन्यं उपज की भेंट तक सीमित था। स्थायी कृषि का विकास न होने के कारण भूमि–आधारित कर प्रणाली का कोई संगठित रूप नहीं दिखता।

उत्तर वैदिक काल (1000–600 ई.पू.) में कृषि के प्रसार के साथ भूमि–आधारित करों का उद्भव हुआ। 'बलि' अब केवल धार्मिक भेंट न होकर नियमित राजस्व का रूप लेने लगा, जिसमें राजा को उपज का निश्चित अंश प्रदान किया जाने लगा। व्यापारिक मार्गों, बाजारों और शिल्प पर कर वसूलने की प्रथा भी प्रारंभ हुई। इस समय कर वसूली व्यवस्था अर्ध–विकेंद्रीकृत थी, जहां जनपदों के प्रमुख और स्थानीय अधिकारी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

महाजनपद काल (600–321 ई.पू.) में राजस्व व्यवस्था और अधिक संगठित हो गई। 16 महाजनपदों में प्रत्येक ने अपने क्षेत्र में विविध कर स्रोत विकसित किए भूमि कर, व्यापारिक शुल्क, मार्ग शुल्क और उत्पाद कर प्रमुख थे। कर संग्रह के लिए नियुक्त अधिकारी एक संगठित तंत्र का हिस्सा थे, हालांकि प्रशासन पूरी तरह केंद्रीकृत नहीं था। यह व्यवस्था आर्थिक स्थिरता और राजनीतिक संगठन को मजबूत करती थी।

नंद काल (345–321 ई०पू०) में राजस्व व्यवस्था का अत्यधिक केंद्रीकरण हुआ। भूमि कर के साथ–साथ व्यापार, शिल्प, खनन और उत्पादों पर भारी कर लगाए गए। कर दरें अपेक्षाकृत ऊँची थीं और प्रशासनिक नियंत्रण कठोर। यह विशाल राजस्व नंदों की विशाल सेना और भव्य दरबार को बनाए रखने में सहायक था। इस समय कर वसूली में सख्ती और नियमितता सर्वोपरि थी।

मौर्य काल (321–185 ई०पू०) में राजस्व प्रणाली अपने चरम पर थी। यह न केवल अत्यधिक केंद्रीकृत थी बल्कि संस्थागत ढांचे से संचालित होती थी। भूमि कर उपज का एक–षष्ठांश से एक–चौथाई तक होता था। व्यापार, खनिज, वन उत्पाद और समुद्री व्यापार शुल्क भी राजस्व के महत्वपूर्ण स्रोत थे। समाहर्ता' और 'संवाहक' जैसे उच्चाधिकारी कर संग्रह और प्रबंधन का कार्य करते थे। अशोक के समय में कर नीति में उदारता और जनकल्याण की भावना का भी समावेश हुआ, जिससे शासन में नैतिक और मानवीय दृष्टिकोण जुड़ गया।

इस प्रकार, ऋग्वैदिक काल की स्वैच्छिक और सरल कर व्यवस्था से लेकर मौर्य काल की संस्थागत, केंद्रीकृत और विविध स्रोतों पर आधारित कर प्रणाली तक, राजस्व व्यवस्था में क्रमिक विकास हुआ। प्रत्येक काल की आर्थिक,

सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार करों का स्वरूप, स्रोत और प्रशासनिक ढांचा परिवर्तित होता रहा।

निष्कर्ष

1500 ई.पू. से 185 ई.पू. के बीच की राजस्व का विकास केवल आर्थिक प्रशावन का क्रमिक परिष्कार नहीं बल्कि यह समाज और शासन के जटिल आपसी संबंधों का दर्पण भी था। ऋग्वैदिक काल की भेंट–आधारित सरल प्रणाली से आरंभ होकर यह उत्तर वैदिक काल में कृषि आधारित नियमित कर संरचना में ढली, जिससे स्थिर राजस्व बना। महाजनपद काल में कर स्रोतों का विस्तार और संरचनागत सुधारों ने राजनीतिक केन्द्रीकरण को संभव बनाया, जबकि नंद काल मे कठोर और व्यापक कराधान ने सेना और प्रशासनिक मशीनरी को असाधारण बल दिया। मौर्य काल ने इस विकास को चरम पर पहुँचाया, जहाँ प्रशासनिक दक्षता, आर्थिक स्थिरता और जनकल्याण का संतुलन स्थापित किया गया। अतः इस दीर्घ ऐतिहासिक यात्रा से यह निष्कर्ष निकलता है कि – भारतीय राजस्व नीति केवल आर्थिक प्रणाली नहीं थी, बल्कि यह नैतिक धार्मिक और सामाजिक दर्शन का जीवंत रूप थी।[17] यह नीति समय के साथ बदलती रही, परन्तु उसका मूल उद्देश्यः

"जनकल्याण एवं राज्य की स्थिरता" अपरिवर्तित रहा।

"राजस्व तभी धर्मसंगत है जब वह प्रजा के हित में प्रयुक्त हो"

(स्रोतः अर्थशास्त्र, अध्याय–5)

अतः भारतीय राजस्व व्यवस्था का इतिहास हमें यह सिखाता है कि राजनीति और अर्थनीति का संतुलन ही स्थायी शासन की नींव है।

संदर्भ सूची

1. कौटिल्य (1969) *अर्थशास्त्र,* संपा. आर, शमशास्त्री, संस्कृत अकादमी, दिल्ली।
2. *ऋग्वेद संहिता* मंडल 10, सूक्त 173, संपा० मैक्समूलर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
3. ऋग्वेद 10.173।
4. घोषाल, यू. एन. (1929) *हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम,* सारस्वत लाइब्रेरी, कलकत्ता, (इन्टरनेट अर्काइव्स से प्राप्त), पृ. 7, 8।
5. थापर, रोमिला (2002) *अशोक और मौर्य साम्राज्य,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 96।
6. शतपथ ब्राह्मण, अध्याय–5 खण्ड–2।
7. Majumdar, R. (1951) *History and culture of the Indian People*, Bhartiya Vidya Bhawan, Delhi, Vol-I, p. 155-160.
8. सहाय, शिवस्वरूप (2020) *प्राचीन भारत,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 404–405।
9. Lallanji, Gopal (1965-1966) *Economic life of Northern India,* Motilal Banarasidass, Jawahar Nagar, Delhi.
10. मजुमदार, रमेशचन्द्र (2019) *प्राचीन भारत,* मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पृ. 404–405।
11. भार्गव, वी.ए. (2011) *प्राचीन भारतीय इतिहास,* रिसर्च पब्लिकेशन जयपुर, पृ. 174 एवं सहाय, शिवस्वरूप (2020) *प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 456।
12. कुमार, नवीन (2011) *प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 260–261।

13. उदगाँवकर, पद्मा भालचन्द्र (1998) *पॉलिटिक्स इन्स्टीट्यूटशंस एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 176।

14. शुक्रनीतिसार, 4/2/241 एवं कुमार नवीन (2011) पूर्वोक्त, पृ. 261–262।

15. विद्यालंकार, सत्यकेतु (2020) *प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग,* श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, पृ. 239–40।

16. प्रसाद, ओमप्रकाश एवं गौरव, प्रशान्त (2011) प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, पृ. 232।

17. कुमार, नवीन (2011) पूर्वोक्त, पृ. 267।

18. शर्मा, आर.एस. (1969) *प्राचीन भारत का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पृ. 210 एवं थापर, रोमिला (2002) *अशोक और मौर्य साम्राज्य,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ. 205–206।

––==00==––